

सुप्रसिद्ध पंजाबी उपन्यासकार की चर्चित कृति 'कश्ती और बरेता'



दिनांक 15 मार्च 2014 को पंजाब के ख्याति प्राप्त उपन्यासकार श्री मोहन काहलों की उत्कृष्ट पंजाबी कृति 'बेड़ी ते बरेता' का हिंदी अनुवाद 'कश्ती और बरेता' का लोकार्पण किया गया । इस उपन्यास का अनुवाद नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया के द्वारा करवाया गया है ।



कई बहुचर्चित उपन्यासों के रचयिता मोहन काहलों जी का सन 1970 में प्रकाशित यह दूसरा उपन्यास था, जिसने सन 1968 में सुर्खियों में आए 'मछली इक दरिया दी' के बाद पंजाबी उपन्यास जगत में इन्हें पूरी तरह प्रतिष्ठित करा दिया। सन 1972 में इसे पंजाब सरकार द्वारा पुरस्कृत किया गया। 1974 में रूसी भाषा में किए गए इसके अनुवाद ने मास्को और पीटर्सबर्ग में रूसी साहित्यकारों में धूम मचा दी। भारत की आज़ादी की 25वीं वर्षगांठ के अवसर पर यूनेस्को (UNESCO) द्वारा प्रकाशित स्मारिका, जिसमें भारत की प्रमुख भाषाओं में रचित उच्च कोटि की साहित्यिक रचनाओं को सूची बद्ध किया गया है, उसमें काहलों जी के प्रथम दो उपन्यासों का विशेष उल्लेख किया गया है। उस दौरान काहलों जी के मात्र यही दो उपन्यास प्रकाशित हुए थे। नेशनल बुक ट्रस्ट ने इस श्रेष्ठ कोटि के उपन्यास को विभिन्न भारतीय भाषाओं में अनुदित करवा कर प्रकाशित करने की योजना बनाई है। इसी क्रम में 'कश्ती और बरेता' का हिन्दी अनुवाद हम सबके समक्ष प्रस्तुत है।

यद्यपि मेरा मूल उद्गम स्थान पटियाला, पंजाब ही रहा है, लेकिन जन्मस्थान कलकत्ता है, अतः पंजाबी भाषा एवं गुरुमुखी लिपि से मेरा करीब का वास्ता नहीं रहा। मेरे दादे-पुरखे 125-30 वर्ष पहले व्यापार के सिलसिले में कलकत्ते आ कर बस गए थे। अतः खत्री-पंजाबी होने के बावजूद हमलोगों की अभिव्यक्ति का माध्यम हिंदी ही रही। बोली भले ही हिन्दी थी, लेकिन हृदय तो वर्षों से 'साइडे पिंड दा' ही था। इसीलिए पूरे उपन्यास को पढ़ने के बाद अंदर कुछ अपनेपन की हिल्लोरें उठने लगीं, कुछ पंजाबियत की रूमानी धड़कन महसूस हुई। साधुवाद नीलम शर्मा जी को,

जिनके एवं एनबीटी के प्रयासों की बदौलत हम मोहन काहलों जी के इस चर्चित उपन्यास से परिचित हो पाए, और यह महसूस हुआ कि इसे तो 1970-75 के आस-पास ही हिंदी में अनुदित हो जाना चाहिए था।

‘कश्ती और बरेता’ की औपन्यासिक शिल्प-कला, भाषा, मुहावरों-लोकोक्तियों के आंचलिक प्रयोगों, लोक-गीतों आदि के बारे में बहुत से समीक्षकों ने अपने-अपने विचार रखे हैं, जिन्होंने इसके मूल पंजाबी रूप को पढ़ा है, पर एक हिंदी पाठक के नज़रिए से मुझे मोहन काहलों जी के इस उपन्यास में अन्य बातों के साथ-साथ 3-4 बातें मार्के वाली लगीं, जिसने मुझे उनके और भी उपन्यासों को पढ़ने के लिए उत्सुक कर दिया है।

पहली बात तो यह कि ‘कश्ती और बरेता’ में मोहन जी ने आज से 44 वर्षों पहले अपने कथानक का विषय पंजाब के चंबे की पहाड़ियों एवं रावी नदी के आर-पार बसने वाले मैदानी इलाकों के गूजर-गवाले, कबीले एवं मुसलमान मल्लाहों के रोजमर्रा के जीवन से लिया है। वर्गों में बँटे समाज की मुख्य धारा से इतर हाशिए के ये वर्ग अभावग्रस्त हैं, भू-संपत्ति से वंचित हैं, अशिक्षित हैं, जिसके फलस्वरूप शहरी सभ्यताओं से काफी परे हैं। ये अपनी मिट्टी से जुड़े हुए हैं, यथार्थ के कठोर धरातल से इनका सरोकार है, जहाँ न तो कोई इनका कठोर संविधान है, ना सामाजिक सभ्यता युक्त परंपराएं और न ही उनको तोड़ने का कठोर दंड। सभ्यता जन्य ये सब बातें तो समाज के प्रतिष्ठित, सुसभ्य वर्गों के शब्दकोश में मिलती हैं। ये वर्ग तथाकथित सभ्य समाज के घातों-प्रतिधातों से भी त्रस्त और पीड़ित हैं। उपन्यास का नायक कहता है—*“अकेला बैठ दुनिया के उलटे दस्तूरों पर हँसता। जब उसमें बुराईयां नाम-मात्र की थीं तो उसे जेल में डाल दिया गया और अब सौ गुनाह करके भी गुनाहगार नहीं। ऐब अपने-आप में कुछ नहीं, बात पता चलने और न चलने की है।”* मोहन जी ने इनके जीवन के अनछुए पहलुओं को उजागर कर सभ्य समाज के समक्ष एक प्रश्नचिह्न खड़ा किया है। क्या समाज की मुख्य धारा से इतर इस हाशिए वर्ग के विकास की जिम्मेदारी सुसभ्य, शिक्षित समाज के ऊपर निर्भर नहीं है?

ऐसे गूजर-गूजरियों एवं मल्लाहों के जीवन का स्वाभाविक चारित्रिक विकास, उनके यथार्थ जीवन के उतार-चढ़ाव, उनकी स्वच्छंदता का वर्णन मोहन जी ने इस उपन्यास में बड़े ही निर्भीक स्वरों में किया है। ‘कश्ती और बरेता’ के युवा पात्रों का दैहिक भोग-विलास उनका नैसर्गिक प्रतिफलन है जो किसी सुगठित बगीचे की तराशी हुई क्यारियों जैसा बनावटी नहीं बल्कि जंगल के पौधों की तरह स्वाभाविक एवं निश्छल है। मोहन जी ने ‘कश्ती और बरेता’ के कथानक एवं उनके पात्रों के चारित्रिक आरोह-अवरोहों के वर्णन में, जो पात्रों की परिस्थितियों से ही पनपते हैं, अपनी सरल एवं सांकेतिक अभिव्यक्ति के साथ पूरा न्याय किया है। गूजर, कबीलियाई मल्लाहों की विडंबनाएं अशिक्षा की

देन हैं, शहरी civilization से कोसों दूर हैं, ऐसे में इन पात्रों से idealism की क्या अपेक्षा की जा सकती है? बल्कि लेखक तो उनकी इसी विडंबनापूर्ण जीवन शैली से ही तो पाठकों का status quo साक्षात्कार कराना चाहते हैं।

मानव जीवन की पूर्ण-अपूर्ण सभी घटनाओं एवं संवेदनाओं की सच्ची अनुभूति ही यथार्थ है। अपनी इंद्रियों के द्वारा समाज में घटित होने वाले सभी प्रकार के क्रियाकलापों का अनुभव करना एवं ज्यों का त्यों कहना यथार्थ है। अगर मन का भावनात्मक रूप साहित्य है तो उसी की बुद्धिगत परिकल्पना यथार्थ है। यथार्थ हमेशा समाज से जुड़ा रहता है। युगीन यथार्थ को पहचानने के लिए जीवन के मूल स्रोतों से संबंध स्थापित करना पड़ता है। उनसे उलझना पड़ता है। शायद इसीलिए काहलों जी को इस उपन्यास के लेखन के दौरान कई-कई महीने चंबे की पहाड़ियों में गूजरों, कबीलियाई जातियों को समझने में बिताना पड़ा था।

उपन्यास की दूसरी विशेषता यह है कि आज से 44 वर्षों पूर्व लिखे गए इस उपन्यास के कथानक में, जो पंजाब के इस अंचल के कबीलियाई जीवनियों की गाथा है, शहरी आबोहवा का कोई संक्रमण ही नहीं है। अशिक्षित होने के बावजूद इनमें कौमी ईर्ष्या-द्वेषों, सांप्रदायिकता का कोई निशान नहीं है। साझे की ज़िन्दगानी है। शाह मज़ार पहाड़ी पर नैना देवी की समाधि? *“हिंदू, मुसलमान, जाट, डोम, सभी एक जुट हो हिंदुओं के तीर्थ स्थानों पर मत्था टेकने जाते।”* *“.....गद्दी, गुज्जर, पांगी, लाहुल, ठाकुर, राजपूत, भट्ट, डोम सभी तरफ और सभी जातियों के लोग मिंजरा का मेला मिलकर मनाते।”* *“चैत माह में सूही का मेला लगता है। और नई नवेली जोड़ी, मुस्लिम हो या हिंदु, चिरंजीवी प्यार और वफा का वर मांगने नैना देवी की समाधि पर आती हैं।”* काश ! शहरी इलाकों का सुसभ्य प्रतिष्ठित समाज इनकी कौमी एकता की भावना को ग्रहण कर पाता। इस उपन्यास के माध्यम से काहलों जी ने गूजरों, मुसलिम मल्लाहों के बीच की आंतरिक मानवता और भाईचारे को उजागर किया है, जो सभ्य और प्रतिष्ठित वर्ग की शिक्षित और civilized मानसिकता से बहुत ऊपर है। 1970 के आस-पास लिखे गए इस उपन्यास से यह तथ्य भी उजागर होता है कि पंजाब प्रांत में सिक्खों, जाटों, हिन्दु, मुस्लिम आदि की अपनी लोक-संस्कृति तथा रीति-रिवाज़ हैं, जो उनके धर्म-संप्रदाय के मूल्यों से काफी प्रबल हैं, और वे अपनी निजी धार्मिक बाध्यताओं को सामूहिक लोक-परंपराओं के आड़े नहीं आने देते। *“.....नमाज़ अता हुई। दुआ माँगी गई। और फिर गुरुद्वारे के भाई जी ने जपुजी साहब के पाठ के बाद अरदास की। कश्ती बेशक जमाले ने बनवाई थी परंतु उसमें सवार तो सभी को होना था, क्या हिंदु, क्या सिख, क्या मुस्लिम। हज़रत बाबे नानक की बाणी भी उतनी ही ज़रूरी थी जितना कि पाक़ कुरान का कलमा। नेमतें भी बांटी गईं और कड़ाह प्रसाद भी। छन्निया गाँव के बाहरी हिस्से में दूसरी ओर रहते हुए भी खालिस सिख उतने ही पक्के मुसलमान थे जितने कि सिख। साल के कुछ निश्चित गिने-चुने दिनों में ही वे गुरुद्वारे और मस्जिद में जाते*

थे, आगे-पीछे ज़िंदगी अपने दस्तूर से चलती रहती। अपने मज़हबों से पुरानी सच्चाइयों के साथ। स्पष्ट रूप से मोहन काहलों जी अपने पात्रों के माध्यम से 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की गरिमा को स्थापित करना चाहते हैं।

तीसरी विशेषता के रूप में यह उल्लेखनीय है कि 'कश्ती और बरेता' उपन्यास मुख्यतः स्त्री प्रधान उपन्यास है, जिसमें स्त्री पात्रों की प्रधानता है। हम सभी जानते हैं कि स्त्री वर्ग समाज का ऐसा वर्ग है जो सदियों से दमित और शोषित होता रहा है चाहे वह किसी भी कौम, जाति या श्रेणी की कोटि में आता हो। तथाकथित शिक्षित और सभ्य समाज की स्त्रियों की दशा शोचनीय है, तो गुज्जर, ग्वालॉ, कबीलियाई मल्लाहों के संप्रदायों में भी स्त्रियों का अस्तित्व कम खतरे में नहीं है। स्त्रियां सदैव ही समाज में व्याप्त कुरीतियों, दमित वासनाओं की शिकार होती आ रही हैं। स्त्री कितनी असहाय और अकेली है इसका प्रत्यक्ष उदाहरण 'कश्ती और बरेता' के स्त्री पात्र 'लाजो' के चरित्र में मिलता है। 'लाजो' की मां तक उसकी अस्मिता की रक्षा कर पाने में असमर्थ है, अन्यथा बाल-विधवा की शिकार 'लाजो', 'शाहणी' न बनती। लाजो को 'शाहणी' बनाने में उसके माता-पिता, जो सामाजिक कुरीतियों के दास हैं, से लेकर समाज का हर वर्ग जिम्मेदार है। उसकी रक्षा के बजाए हर कदम पर उसका भक्षण होता है, पग-पग पर ठोकर खाती हुई 'लाजो' अंत में बुलंद वेश्यावृत्ति का सहारा लेती है। क्रमानुसार वह अपनी त्रासदी की तर्ज पर नवयौवना बालाओं को अपने चंगुल में फंसाती जाती है और अपना ऐसा साम्राज्य स्थापित करती है जिसमें वह स्वच्छंद है। यहां दमित स्त्री का मूक विद्रोह स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। सत्ता-तंत्र की पीड़ा से भी अंचल की स्त्रियां त्रस्त हैं। अपनी परिस्थितियों से जूझते हुए वे अपना अस्तित्व स्थापित करती हैं। समाज में पुरुष वर्चस्व के अधीन शोषित, दमित नारी अंदर से साहसिक है जिसका उदाहरण हमें 'शाहणी' के निडर रवैये में; 'कादर' की मां 'शरीफां' के द्वारा 'जमाले' का एक बच्चा जनने के बाद भी कादर की कद्र न होते देख, बाकी बच्चे जमाले के नाम पर 'अनवर' द्वारा जनने की साहसिकता में; 'माता आशो' के मनमौजी-पूर्ण फैसले करने और अपना एक पाखंडी साम्राज्य स्थापित करने में; दिखाई पड़ता है।

नारी, प्रेम और विश्वास की भूखी होती है। समाज की कुरूपता से प्रभावित, पुरुषों द्वारा ठगी गई नारी अगर चाहे तो भीतर ही भीतर मीठा बदला भी ले सकती है। यह उसकी अनैतिकता कतई नहीं बल्कि मूक नारी विद्रोह है। समाज की विसंगतियों से प्रताड़ित नारी के अंतर्मन की बारीकियों का काहलों जी ने इस उपन्यास में बहुत ही सूक्ष्म वर्णन किया है। *"...कादर को जमाला देखना नहीं चाहता था और शरीफां कादर के बिना अधमरी सी हो रही थी। उसने एक बच्चा जमाले का पैदा किया और सोचा कि वह अपने बच्चे को प्यार करेगा तो कादर उसकी आँखों को अधिक नहीं चुभेगा परंतु उसके स्वभाव में कोई परिवर्तन न आया देख उसे गुस्सा आया। तब उसने जमाले के नाम पर कादर*

के बाप अनवर के बच्चों को जन्म दिया। जमाले द्वारा उन्हें अपने बच्चे कहे जाने पर वह भीतर जा कर जोर-जोर से हँसती। मर्द भी कितनी वाहियात ज़ात है, वह सोचती। नारी मन के कितने सूक्ष्म पहलुओं की झलक यहां स्पष्ट हो रही है।

काहलों जी ने अपने इस उपन्यास में औरतों को समाज और वर्ग की प्रतिकूलताओं से अतीव साहस के साथ संघर्ष करते हुए चित्रित किया है। उपन्यास के मुख्य पात्र 'शैलो' के रूप में काहलों जी ने नारी के उत्तम गुणों को भी उजागर किया है। 'शैलो', बिन मां की बच्ची होते हुए भी सयानी, गंभीर, विवेकी और नैतिकता के दायरे में बंधकर जीने वाली एक आत्माभिमानिनी तथा सशक्त स्त्री है। शैलो एकनिष्ठ प्रेम की साक्षात् प्रतिमूर्ति है। 'कादर' आजीवन विलासिता और कामुक प्रवृत्ति का ही रहा, फिर भी उसके प्रति 'शैलो' के प्यार में कभी भी कड़वाहट नहीं आई। वह अपने सच्चे प्रेम के लिए प्रेमी के सौ खून भी माफ कर सकती है। अपने कामुक पति की हर कमजोरी को आत्मसात् करते हुए उसकी एकनिष्ठ पत्नी तथा एक जिम्मेदार मां भी है।

एकनिष्ठ प्रेम के साथ-साथ 'शैलो' कर्मनिष्ठा की भी परिचायक है। अपने जीवन की त्रासदी को स्वीकार करते हुए अपनी जिजीविषा के लिए वह अपने बच्चे को साथ ले कर रातों-रात मछुआ चलाना सीखती है। दुःख को याद कर रोने और अपना वक्त गंवाने की बजाए जीवन को ईमानदारी से जीने का रास्ता ढूंढ लेती है। *".....बदशगुनी, कुलहिणी, बरेते लगी कश्ती दो सौ रुपये ले कर फजे को बेच अपने पुराने मछुए के साथ अदला-बदली कर लेती है। गामे को साथ ले, रात को ही लोगों से चोरी पानी में चलाना सीखती है। और फिर लोग हैरान होते हैं एक औरत को मछुआ चलाते देखकर।*

चोरी यारी की तो शर्म हुई, हक का काम कर लेने में काहे का ताना, मन में सोचती है।"

वस्तुतः 'कश्ती और बरेता' की नायिका शैलो ही नहीं लाजो-शाहणी, माता-आशो, शरीफां, गोमी, बानो, ऐशां का समुच्चय है जिसमें तमाम अन्य स्त्री पात्र भी सिमट जाते हैं। ये सारे स्त्री पात्र एक ही किरदार शोषित, दलित, दमित स्त्री की विभिन्न अवस्थाओं के रूप हैं। यहाँ केवल दलित जाति की ओर इंगित करना भी समीचीन नहीं होगा। पूरी स्त्री जाति चाहे वह हिंदू हो, मुस्लिम हो, जाट हो, गूजरी हो, मल्लाह हो; हर वर्ग की स्त्री की अस्मिता दलित है, शोषित है, संघर्ष और पीड़ा की कहानी है। काहलों जी ने इस उपन्यास में नायिका के द्वारा कर्म को सर्वोपरि मानते हुए विजय की स्थिति में पहुंचाया है। शैलो जीवंत पर्यन्त संघर्ष करती हुई अंततः एक मुकाम हासिल करती है। इस प्रकार वह किसी जाति-जनजाति विशेष की नहीं रह जाती। उसकी आशा, आकांक्षा और जिजीविषा जाति से भी आगे

जाकर लिंग भेद को लांघती है। अपने दृढ़ निर्णय के आगे पुरुष वर्गों को भी दांतों तलें उँगली दबाने को मज़बूर कर देती है। मोहन काहलों ने अपने मुख्य स्त्री-पात्र 'शैलो' के माध्यम से कथानक का अंत त्रासदीपूर्ण रखते हुए भी आदर्शात्मक किया है।

इस उपन्यास से रू-ब-रू होने के बाद कोई दो उपन्यास जेहन में बार-बार उभरते हैं, एक मिथिला जगत के सुप्रतिष्ठित लेखक ब्रज किशोर वर्मा 'मणिपद्म' का सन 1970 के दशक का 'नैका बनिजारा' और दूसरा, हिंदी जगत की जानी मानी लेखिका मैत्रेयी पुष्पा का सन 2000 में प्रकाशित 'अल्मा कबूतरी'। 'नैका बनिजारा' भी नाविक-बनजारा जनजातियों की समस्याओं पर लिखा गया उस समय का यथार्थ चित्रण है, जब इन उपेक्षित, अवांछित जातियों पर कुछ साहित्य रचने की बात किसी ने कल्पना भी नहीं की होगी। इस उपन्यास को 1973 में साहित्य अकादमी पुरस्कार से भी नवाज़ा गया। ठीक उसी दौरान काहलों जी का यह उपन्यास भी आंचलिकता की सुरभि बिखेरते हुए पंजाबी भाषा एवं गुरुमुखी लिपि में प्रकाशित हुआ। 'अल्मा कबूतरी' बुंदेलखंड की विशेष जनजाति 'कबूतरा' की समस्याओं और पीड़ा को केंद्र में रखकर लिखा गया उपन्यास है। यह सही है कि पिछले कुछ वर्षों से साहित्य की ओर देखने में गुणात्मक अंतर आया है। दलित चेतना और स्त्री-विमर्श ने अब तक के साहित्य की ओर देखने और समझने की एक नई दृष्टि दी है। 'अल्मा कबूतरी' उपन्यास के माध्यम से सही मायने में "मैत्रेयी ने समाज के ग्रामीण फलक पर स्त्री मुक्ति तथा दलित मुक्ति दोनों का स्वप्न देखा है। साथ ही एक संघर्षशील, जुझारू तथा लीक से हटकर चलती, पुरुषोचित दर्प से टकराने वाली स्त्री की रचना की है।" स्वयं लेखिका ने अपने निबंध, '*आप की दुनिया स्त्री मेरे पाठ में*', कहा है कि-- "*भारतीय स्त्री दलितों में भी सर्वाधिक दलित है।*" यही सत्य काहलों जी के इस उपन्यास में भी प्रखर हो उठा है। मोहन काहलों जी की तरह ही 'अल्मा कबूतरी' के माध्यम से मैत्रेयी पुष्पा ने भी स्त्री-विमर्श के मूलमंत्र की स्पष्ट घोषणा की है-- "*औरत को अपने जीवन की बागडोर खुद संभालनी होगी। उसे खुद अपनी जिंदगी की मुक्ति के लिए मार्ग तैयार करना होगा।*" जैसा कि 'कश्ती और बरेता' की लाजो, माता-आशो आदि की ही तरह शैलो भी कादर की मृत्यु के बाद अपनी जिजीविषा का मार्ग खुद चुनती है ।

भारत में आज भी कुछ ऐसी अभागी जनजातियां हैं, जो आज़ादी का अर्थ तक नहीं जानतीं। उनके पास न तो अपनी ज़मीन है और न ही ठिकाने का घर। औपनिवेशिक शासन ने उन्हें न केवल '*ज़रायम पेशा*' जाति ही घोषित किया बल्कि तथाकथित 'सभ्य समाज' की नज़रों में उन्हें उपेक्षा और घृणा का पात्र तथा पुलिसिया अत्याचार का चारा भी बना दिया। यद्यपि देश आज़ाद होने के बाद इन जातियों को समान नागरिकता का अधिकार तो प्राप्त हो गया, पर जीविकोपार्जन का कोई सम्मानजनक साधन उपलब्ध नहीं होने के कारण इनके पुरुष अपराध कर्म और स्त्रियाँ देह

व्यापार के लिए विवश हो गई। मैत्रेयी पुष्पा ने 'अल्मा कबूतरी' में तथा काहलों जी ने 'कशती और बरेता' में इसी कटु यथार्थ को गहरी संवेदना तथा खूबसूरत सृजनात्मकता के साथ प्रस्तुत किया है।

1936 में जनजातियों की दयनीय स्थिति को देखते हुए जवाहरलाल नेहरू ने एक अधिनियम बना कर उन्हें '**जन्मजात अपराधी**' (जैसा कि ब्रिटिशों ने उन्हें घोषित किया था) के आरोपण से मुक्त करने की पैरवी की थी। प्रधानमंत्री बनने के बाद 1952 में उन्होंने इसे लागू भी किया। भारत को स्वतंत्र हुए 67 साल बीत चुके हैं, लेकिन स्थिति आज भी ज्यों की त्यों है। समाज के समक्ष काहलों जी ने इसी ओर प्रश्नवाचक चिह्न खड़ा किया है।

दोनों उपन्यासों को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है कि ये जनजातियां अपराध और अनैतिकता से युक्त नहीं हैं, बल्कि अपराधी तो अपने को सभ्य कहने वाला असभ्य और बर्बर समाज है जो इन जनजातियों को 'अपराधी' बने रहने को मजबूर करता है, वे उठना चाहें तो उठने न दें। सभ्य समाज, कानून और पुलिस उन्हें अपराधी और असभ्य बनाए रखना चाहते हैं ताकि उनकी तुलना में वे अपने को सभ्य और सुसंस्कृत कह सकें।

काहलों जी के औपन्यासिक शिल्प या उनके द्वारा किए गए भावनात्मक चित्रण पर नज़र डालें तो उनके द्वारा किए गए स्त्री मनोभावों के संवेदनात्मक मनोविश्लेषणकारी चित्रण में उनकी सांकेतिक चित्रात्मक अभिव्यक्ति काफी प्रभावित लगी। एक स्त्री लेखिका द्वारा स्त्री के मनोभावों का वर्णन, उसके दैहिक सुख का वर्णन किया जाना जितना सरल है, उतना एक पुरुष लेखक द्वारा उसी समरूप मनोभावों का वर्णन और स्त्री की विकासोन्मुख शारीरिक संरचना का वर्णन किया जाना दुसाध्य है। मानव-मन के अवचेतन में छुपी सुप्त आकांक्षाओं के मनोयथार्थ को खंगालने में वे काफी हद तक सफल भी हुए हैं। उनके द्वारा स्त्री-पुरुष के संबंधों की बोधगम्यता सही मायने में काबिले तारीफ तो है ही, बल्कि उसका सांकेतिक चित्रण उन्हें अश्लीलता के दायरे से भी बरी रखता है। नवयौवन की देहरी पर पाँव रखती 'शैलो' का चित्रण उपन्यास के पहले अनुच्छेद से शुरू होता है जो इस प्रकार है:--**"यह शैलो का पहला कमर-दर्द था। शहतूत की टहनी को मानो कोई तोड़-मरोड़ रहा हो। सर भारी-भारी और अंग शिथिल से। तन में चुभन सी। जिस्म निर्जीव सा। दिल घबराता और मिचलाता सा। सुंडी की भाँति बल खाते किसी तरह रात कटी। एक और मीठा सा दर्द वह पिछले कुछ वक्त से महसूस करती आ रही थी। ऊपरी बाड़े में लगे पपीते के पेड़ के तने से मानो फल फूट रहे थे वैसे ही उसके शरीर रूपी पेड़ पर भी मानो दो फल प्रस्फुटित हो चुके थे। आधे भीतर, आधे बाहर।"....** ऐसे में उनके उपन्यासों पर अश्लीलता के आरोप बेबुनियाद लगते हैं।

हिन्दी अनुवाद 'कश्ती और बरेता' में उपन्यास की आंचलिकता को जीवंत रखते हुए पंजाब के पहाड़ी कबीलों और जाटों की लोक-संस्कृति के साथ-साथ उनकी बोली को भी यथासंभव बरकरार रखा गया है जो प्रादेशिक आंचलिकता और पंजाब की रवायती को इस उपन्यास में संजोए रखने के लिए समीचीन भी था। शायद इसीलिए कुछ पंजाबी गीतों, पंजाबी बोलियों, उप-बोलियों एवं उर्दू के शब्दों को यथास्थिति रखा गया है।

अंत में हिन्दी पाठक के दृष्टिकोण से एक सुझाव यह है कि हिन्दी अनुवाद 'कश्ती और बरेता' में इसके अगले संस्करण में इन शब्दों जैसे:—बरेता, सुंडी, खंगूरा मारना, सालू, बलदों, झुंगे, वरी, मेंढियां, ढकी, कूहल, वस्में से, कुत्तेखानी, लारा, दयार, मछुआ.....आदि कई शब्दों के लिए प्रत्येक पृष्ठ के नीचे फुट-नोट के तहत अगर इनके अर्थ भी दिए जाएं तो इसकी कथा और भी ग्राह्य होगी।



सुमनश्री करणसेठ
वरिष्ठ सहायक सचिव
कोलकाता पत्तन न्यास

मो: 9433539673

ईमेल: sumansri_k@yahoo.co.in
